

जैन धर्म में 'ध्यानयोग' (Jain Dharm Me 'Dhyanyog')



Literature

KEYWORDS :

DR ANUBHA JAIN

Persuing D.lit, YAMUNANAGAR - 135001, HARYANA

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी भी है और संवेदनशील प्राणी भी। वह जिस वातावरण में और जिन लोगों के बीच रहता है, उनसे वह किसी न किसी प्रकार से अव्यक्त प्रभावित होता है। सांसारिक अनुभव और संसार का समस्त व्यापार भ्रम के चक्र के कारण ही है और भ्रम के इस चक्र की दूरी है—मानव मन। मनुष्य के मन में संसार के विभिन्न जीवों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। जैन धर्म में इन भावनाओं को—मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ— कहा गया है। 'तत्त्वाध्यायिसूत्र' में इन भावनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि प्राणिमात्रा में मैत्री, अपने से अधिक गुणवालों में प्रमोद, क्लिष्टामान्, दुःख व पीड़ित जीवों में करुणा—भाव और नास्तिक व अर्द्धी जीवों में तरस्थता की भावना रखनी चाहिए।¹

इन चारों भावनाओं को प्राचीन भारतीय परम्परा में धर्मिक आचार-विचार का आवश्यक अंग एवं धर्मध्यान की आधारभूत माना गया है। पतंजलि के योगसूत्रा में इन्हीं भावनाओं का उल्लेख मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के नाम से किया गया है।² उनके अनुसार सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी जीवों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त में निर्मलता आती है। इससे क्रोध, मान, माया आदि चित्त के विकार दूर होते हैं जिससे ध्यान स्थिर होता है तथा अन्त में जीव मोक्ष गति प्राप्त करता है। अतः व्यक्तिक का कर्त्तव्य है कि वह विवेक का प्रयोग करके तथा कामनाओं का त्याग करके³ मन को स्थिर करे। जब प्रयास करके मन को स्थिर कर लिया जाता है तो स्थिरता की गति, सभी पीड़ा और दुःख लिप्त हो जाते हैं।⁴ चित्त निरोध अर्थात् मन को वष में कर लेना संसार के चक्र की गति से उत्पन्न होने वाले रोगों का सर्वोत्तम एवं सरल उपाय है। जब चित्त अर्थात् चेतना, चित्त अर्थात् मन से स्वतन्त्रा या मुक्त हो जाता है तो यह बुद्धात्मा, पवित्रा बन जाता है। मानसिक प्रक्रियाओं एवं घाटीरिक क्रियाओं को वष में कर लेने में ही सर्वोत्तम अवस्था निहित है।⁵ परन्तु मन पर नियन्त्रण किए बिना अन्तर्मुखी ध्यान का अभ्यास करना सम्भव नहीं है और ध्यान के बिना मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं।

सांख्य और योग में बहिर्मुख हो कर संसार चक्र में घूमने के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म बताए गए हैं और इसी क्रमानुसार अष्टादश-योग को अन्तर्मुख होने का साधन कहा गया है। ये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धरणा, ध्यान, समाधि— 8 योग के अङ्ग हैं।⁶ इनमें से धरणा, ध्यान, समाधि— साक्षात् सहायक होने से योग के अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं तथा यम—नियम आदि योग के बाह्य हिंसादि वितर्कों को निर्मूल करके समाधि को सि(करते हैं जिससे प्राणायाम की स्थिरता होती है।

मन को नियन्त्रित करना ही अन्तर्मुखी साधना का मूल है। मन को वष में करने पर ही चित्त में पु(ता आती है। ध्यान स्थिर होता है, विवेक में वृ(ि आती है और साधक आत्मलीन हो कर मुक्ति प्राप्त करता है।

चित्त वृत्ति मात्रा से किसी स्थान विरोध में बौध्ना 'धरणा' कहलाता है।⁷ चित्त बाहर के विशयों को इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्रा से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार द्व(रा इन्द्रियों अन्तर्मुखी हो जाती है, तब भी वह अपने ध्येय— विशय को वृत्ति—मात्रा से ग्रहण करता है। अतः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाए, तब उसको अन्य विशयों से हटाते हुए एक ध्येय—विशय में वृत्तिमात्रा से बौध्ना ही 'धरणा' कहलाता है। अतः धरणा द्वारा वित्त के मूढ और क्षिप्ररूप तमस् और रजस् को हटा कर उसको सात्त्विक रूप में वृत्ति मात्रा से किसी एक विशय में स्थिर करके दिय्य बनाना होता है।

जैन दर्शन में ध्यान की सि(ि के लिए मन को बाहरी विशयों से हटाने और इसे वष में करने पर जोर दिया गया है परमार्थ की प्राप्ति अन्तर्मुखी ज्ञान द्वारा होती है। यह ज्ञान ही अज्ञानजनित कर्मों का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यह ज्ञान केवल ध्यान द्व(रा ही प्राप्त किया जा सकता है। स्पष्टतः जैन धर्म की साधना में ध्यान का स्थान सबसे ऊँचा है। इसकी सर्वोच्चता 'शिभासित' में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।⁸ यथा शरीर में पीर्य का और वृक्ष में जड़ का महत्त्व है, क्योंकि ध्यान के बिना व्युत्सर्ग अर्थात् परीरादि में 'मै-मेरा' के भाव का त्याग नहीं होता और व्युत्सर्ग के बिना शरीर संसार, कशाय और कर्म से मुक्ति नहीं होती है।⁹ श्रीभद्रभागवद्गीता में मन का विशयों में भटकने को ही सभी प्रकार की पीड़ाओं, कष्टों एवं दुःखों का मूल बताया गया है।¹⁰ मन को विशयों से पूर्णतः हटा लेना ही 'ध्यान' है। जब मन की गति धीमी व गहरी हो जाती है, वही ध्यान है। अतः वृत्ति का एक—सा :घटो(िम् घटो(िम् आदिद्व बना रहना 'ध्यान' है।¹¹ धरणा में चित्त जिस वृत्ति मात्रा से ध्येय में लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आए, तब उसे ध्यान कहते हैं। पतंजलि के अनुसार जो अभिमत हो, उसके ध्यान से मन की स्थिति बंध जाती है।¹² भिन्न—भिन्न मनुष्यों की भिन्न—भिन्न रुचियाँ होती हैं। इस कारण जिसकी जिसमें पाश्चात्तीय मर्यादानुसार सात्त्विक श्र(ि हो, उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। स्पष्टतः चित्त में एकाग्रता की योग्यता प्राप्त हो जाए तो उसे जहाँ चाहे लगाया जा सकता है। ऐसे स्वरूप वाला तथा ध्यानयोग से युक्त अन्तः करण वाला योगी समत्व का भाव रखता है।¹³

अतः अपने अन्तर में चित्त को एकाग्र भाव से स्थिर रखने के लिए तन मन और बचन—तीनों को बिल्कुल निष्कल एवं स्थिर रखना आवश्यक है। इन तीनों की क्रियाओं को रोकने या बन्द करने को जैन धर्म में त्रियायोग का निरोध करना कहते हैं। इस त्रियायोग—निरोध से ही आत्मलीनता की अवस्था प्राप्त होती है। यही 'परम' ध्यान है।¹⁴

ध्यान की गहरी अवस्था में ध्याता ध्यान करने वालाद्व शरीर में रहते हुए भी शरीर और जगत् से असंग, अतीत या अनासक्त हो जाता है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म—साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का आत्मा से परमात्मा का दर्पण कराता है।¹⁵

ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी बनी रहती है। जिस विशय में चित्त को वृत्ति मात्रा से स्थिर किया जाता है, उस वृत्ति को अस्थिर करने रजस् और और प्रमोद उत्पन्न करने वाले तमस् को हटा कर चित्त को उस सात्त्विक एवं दिय्य रूप से लगातार उस एक वृत्ति में ही स्थिर करना होता है।¹⁶ श्रीभद्रभागवद्गीता में भी उल्लिखित है कि ऐसे ही व्यक्ति के पापों का नाश होता है। रजोगुण तथा मन सर्वथा पान्त होने से ऐसे ब्रह्मस्वरूप योगी को निश्चित रूप से सुख की प्राप्ति होती है।¹⁷

स्पष्टतः चित्त की एकाग्रता और स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है।¹⁸ इस एकाग्रता का क्रमिक विकास होता है। प्रारम्भ में चित्त कतिपय क्षणों के लिए ही एकाग्र होता है। पनै—पनै: दृढतापूर्वक प्रयत्न जारी रखने पर एकाग्रता में कुछ अधिक स्थिर हो जाती है कि यह तल्लीनता में बदल जाती है। तब ध्याता ध्यान करने वालाद्व — ध्येय ध्यान किए जाने वाले पदार्थद्व में लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता ध्येय से एकाकार हो जाता है। इस प्रकार मुख्य रूप से एकाग्रता की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। पतंजलि ने अपने योग शास्त्रा में इन अवस्थाओं को क्रमशः धरणा, ध्यान और समाधि कहा है, परन्तु जैन धर्म में 'ध्यान' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है जिसमें एकाग्रता की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पूर्ण तल्लीनता तक की सभी अवस्थाएँ शामिल हैं। यही कारण है कि जैन धर्म में 'योग' अर्थात् 'चित्तवृत्तिनिरोध' और 'समाधि' अर्थात् ध्याता और ध्येय की एकरूपता—दोनों ही पद 'ध्यान' शब्द के पर्यायवाची माने गए हैं। 'आदिपुराण' में ध्यान के समानार्थक शब्दों का भी उल्लेख मिलता है यथा — योग, ध्यान, समाधि, वृ(ि की चंचलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वष में करना और अन्तः संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि।¹⁹ आदिपुराण भी ध्यान को ही मुक्ति का कारण स्वीकार करता है।²⁰ स्पष्टतः जब केवल ध्यान का केन्द्र ही पेश रह जाता है, पेश सभी पूर्य हो जाता है तो उसे 'समाधि' कहते हैं। समाधि ही अन्तिम उद्देश्य है, धरणा व ध्यान उसके मार्ग हैं। पतंजलि के अनुसार वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रा से भासता है और ध्यान का स्वरूप पूर्य जैसा हो जाता है।²¹ ध्येय—विशयक ध्यान ही अभ्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा हो कर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येय स्वरूपकारता बढ़ती जाती है और ध्यातु तथा ध्यान उसके प्रकाशन करने में अपने स्वरूप से सर्वथा पूर्य जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जाए कि ध्यातु और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा पूर्य जैसे हो कर ध्येय—स्वरूपमात्रा से प्रतीत होने लगे और ध्येय का स्वरूप ध्यातु और ध्यान से अभिमत हो कर ध्येयाकार—वृत्ति में सम्पूर्णता से भासने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में भी इस तथ्य का उल्लेख मिलता है।²² जिस विशय में चित्त को वृत्ति मात्रा से ध्यान में अविच्छिन्ना के साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजस् ध्यान और ध्यातुरूप आकारता में ले जा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातुरूप आकारता को रोकें हुए है, उस लेपमात्रा रजस् और तमस् को भी हटाकर समाधि में चित्त का उस सात्त्विक दिय्यद्व रूप में ध्यातु और ध्यान से पूर्य जैसा हो कर केवल ध्येयाकारता से भासित होता है।

ध्यान अन्तर्मुखी साधन है। जब तक इन्द्रियों बाहरी विशयों में संलग्न रहती है तब तक न मन अन्तर्मुख हो सकता है और न एकाग्रता ही आ सकती है। ध्यान के विकास द्वारा ही पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है और पूर्ण ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का एकमात्र साधन ध्यान ही है। केवल अर्हत् देव ही मानव मन, वचन और काय की पु(ि के उपायों तथा ध्यान के सभी भेदों और उनके अभ्यास की पूरी विधि को विस्तारपूर्वक और स्पष्टता के साथ समझा सकते हैं। जैन धर्म के अनुसार योगी ;मन, वचन और काय की क्रियाओं को अबु(रखने से कर्मों से बंधन होता है तथा बु(योग से अव्यय यह मानव कर्मों से छूट जाता है। यद्यपि ध्यान का मार्ग कठिन है तथापि जो मुमुक्षु को गुरु—वचनों के माध्यम से इस ध्यान के मार्ग को अव्यय समझ लेना चाहिए।²³ अतः जैन धर्म के अनुसार जिन अर्थात् जिनेंद्रिय कर्मों से निर्लिप्त होने वाले गुरु से ही ध्यान का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।²⁴

धरणा, ध्यान, समाधि—इन तीनों को मिला कर संयम कहा जाता है।²⁵ रागरहित योगी—गण के चित्त विशयक संयम करने वाला चित्त मन की स्थिति को बौध्ने वाला होता है।²⁶ जब इन्द्रियों के अर्थों व भोगों में और क्रियाओं में आसक्ति नहीं रहती तथा सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग कर देता है तो वह योगी अपने चित्त में स्थित हो जाता है।

जब सूर्य की किरणें बिखरी होती हैं तो उनमें गर्मी का अभाव होता है किन्तु जब किसी अतिथी षीषे बृहंग यन्त्राद्ध की सहायता से उन्हें एकाग्र कर लिया जाता है तो वे कागज को भी जला देती हैं। इसी प्रकार जब ध्यान के माध्यम से हम मन को एकाग्र कर लेते हैं तो वह चित्तपाली हो जाता है। ध्यान के माध्यम से वह उस सुख को प्राप्त कर लेता है जो आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है और उस सुख का अनुभव करता हुआ तथा उस सुख में स्थित होता हुआ वह कभी तत्त्व से विचलित नहीं होता।¹⁷

इसी को ध्यान अथवा मनः चित्त कहते हैं। ध्यान प्रक्रिया हमारे मन और शरीर को स्थिर करती है ताकि हम अपनी अलौकिक शक्तियों को पुनर्जीवित, पुं (और संचित कर सकें)। स्पष्टतः ध्यान का लक्ष्य है चेतना का पुंकिरण अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति जिससे स्पन्दन, प्रकाश एवं जीवन चित्त को बल मिलता है।

जिन महान् योगियों ने विशयों की अभिलाशा पूर्णतया त्याग दी है, जिसके कारण उनके चित्त से अविद्यादि क्लेषों के संस्कार मिट गए हैं, उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त में भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और वह सुगमता से एकाग्र हो जाता है।

अष्टाङ्ग योग के पहले 5 अङ्ग —

बहिरङ्ग. साधन सांख्य और योग में समान हैं, किन्तु जहाँ योग में सालम्बन अर्थात् धरणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विशय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं, वहाँ सांख्य में नि. रालम्ब अर्थात् बिना किसी विशय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धरणा, ध्यान और समाधि के स्थान में चित्त और उसकी वृत्तियाँ दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं।

अतः कहा जा सकता है कि 'ध्यान' के बिना आध्यात्मिक सफ्रफलता सम्भव नहीं। यह एक धीमी एवम् सतत् प्रक्रिया है। इस मार्ग में सफ्रफलता के लिए धैर्य और निरन्तरता आवश्यक है। एकाग्रता ही ध्यान का सार है।

जैसे सागर में तरंगें उठती हैं, ठहरती हैं और अन्त में सागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह संसार हमारे समक्ष उभरता है, ठहरता है और फ्रिफर ब्रह्म में लीन हो जाता है, जिसे हम पुं चेतना भी कह सकते हैं। ठीक उसी प्रकार मानव विवेक भी उभरता है, ठहरता है और तत्पश्चात् ब्रह्म में लीन हो जाता है।

स्पष्टतः ध्यान में ही सर्वोत्तम सुख है। मन किसी सागर में उठती लहरों की भाँति एवं वायु के समान सदैव चलायमान है। मन अत्यन्त चंचल दृढ़ एवं बलवान् है।¹⁸ सागर चित्तः पुं चेतना अथवा ब्रह्म की भाँति है अर्थात् चित्त अथवा मन पुं चेतना से ही जन्मता है। मन के वष में होने पर इन्द्रियाँ एवं उनकी क्रियाएँ भी स्वतः वष में हो जाती हैं।

वास्तव में ध्यान में सफ्रफल होन के लिए राग, द्वेष और मोह से ऊपर उठ कर अना. सक्त या निर्लिप्त जीवन बताने का प्रयास करना आवश्यक होता है और कार्य गृहस्थ और संन्यासी—दोनों के लिए कठिन अवष्य है, पर उचित साहस, पूर्ण विष्वास और दृढ़ अभ्यास द्वारा इस कठिनाई पर विजय प्राप्त की जा सकती है। दूसरे षब्दों में दृढ़ संकल्प और कठिन अभ्यास द्वारा गृहस्थ और संन्यासी—दोनों ही ध्यान की साधना में सफ्रफल हो सकते हैं।

REFERENCE

- तत्त्वविमर्शसूत्रा, 7.11: च मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकित्थयमानाविनयेषु। च द. पत.जलि, योगसूत्र, 1.33: मैत्रीकरुणामुदितोष्णाणां सुखदुःखपुण्यापुष्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 2.71: च विहाय कामान् सर्वान्मुमांश्चरति निःस्पृहः। च निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। च द. वही, 2.56: दुःखेषु बुद्धिनिमनाः सुखेषु विमर्शसुहः। च वीतरागमयक्रोह स्थितधीर्मुनिरुचते।। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 2.57: च यः सर्वत्रामिद्ब्रह्मस्तत्रात्रात्य शुभायुषम्। च नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। च द. पत.जलयोगप्रदीप, साधनापद, 29 च यमनिग्रमासंग्रामाणाममक्रयाहार धरणाध्यानसमाधौऽपि।। च द. पत.जलयोगप्रदीप, विभूतिपादः 4 देशबन्धैश्चित्तस्य धरणा।। च द. विभासित, अध्याय 22, गाथा 14: च सीसं जहा सरीरेस्स, जहा मूलं दुमस्स य। च सव्यस्स साहु ध्मस्स, तथा ज्ञानं विधियते।। च द. द.—कन्हैयालाल, जैन धर्म में ध्यान, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ.64. च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.23: च तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। च स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसः।। च द. पत.जलयोगप्रदीप, विभूतिपादः 2: च तत्रा प्रत्ययैकान्ताना ध्यानम्। च द. पत.जलयोगप्रदीप, समाधिपद, 39: यथाभिमल्ल्यानाह।। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.29: च सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चान्मानि। च ईक्षते योगयुक्तात्वा सर्वत्रा समदर्शनम्।। च द. द्रव्यसंग्रह, 59: च मा चिदुह मा जंघह, मा चित्तह किं वि जेव होइ थिरो। च अप्पा अर्पमि रओ, इणमेव परं हवेज्जाणं।। च द. द. — जैन धर्म में ध्यान की भूमिका, सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 2007, पृ.21. च द. पत.जलयोगप्रदीप, च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.27: च प्रशात्तमनसं ह्येनं यागिनं सुखमुत्तमम्। च उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। च द. अनगरधर्मसूत्र, 1.114.117 च प्र.—जैनैद्य सिं (तन्त कोश, भाग-2, पृ. 494 च. द.— अविपुराण प्रथम भाग, 21.12 च द. द.— वही, 21.132. च द. पत.जलयोगप्रदीप, विभूतिपाद 3: च तदेयार्थमात्रानिर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधि। च द. तत्त्वार्थवार्तिकः राजवार्तिकद्व, अध्याय षष्ठ, च पृ.505 च द ध्यानं योग इति चेत्। न तस्य कस्यमाणत्वात्। च स्यादेतत्—ध्यानं योगशब्दाद्यैः न कायवाड.मनस्कर्मैति। च तन्नः किं कारणम्? तस्य कस्यमाणत्वात्। जुजेः च समाधिवचनस्य योगः समाधि ध्यानमित्येव च धनन्तस्य स तु कथ्यते। इहास्त्राव्यतिपादनार्थत्वात् त्रिक्रिया योग इत्युच्यते। च द. णणासार, ज्ञानसारद्व, श्लोक 3, च योगतो हि लभते विबन्धम् योगतोपि किल मुच्यते नरः। योगवर्त्म विषयं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा।। च द. वही, श्लोक 4 च ज्ञानं जिनेः भगिन्तं, सफ्रकार्यार्थवदिभिः विगतलेपः। च तदेव—निस्संदेहं, ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन।। च द. पत.जलयोगप्रदीप, समाधिपद, 37: च वीतरागविषयं वा चित्तम्। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.18: च यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। च निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.21: च सुखमात्मनिकं यत्तुःप्राज्ञामतीन्द्रियम्। च येति यत्रा न वैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। च द. श्रीमद्भागवदगीता, 6.34 च चमं चि हलं मनः कृष्ण प्रमाधि बलवद्दृढम्। च तस्यार्हं निग्रहं मन्ये वायोयै रियुदुष्करम्।। च द.